७ कर्म का स्वरूप

☐ पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

कर्म सिद्धान्त के बारे में ईश्वरवादियों और अनिश्वरवादियों में एक सत्य होते हुए भी कर्म के स्वरूप और उसके फलदान के सम्बन्ध में मौलिक मतभेद हैं। साधारण तौर से जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे—खाना, पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना, विचारना वगैरह। परलोकवादी दार्शनिकों का मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य अपना संस्कार छोड़ जाता है। उस संस्कार को नैयायिक और वैशेषिक धर्म या अधर्म के नाम से पुकारते हैं। योग उसे कर्माशय कहते हैं, बौद्ध उसे अनुशय आदि नामों से पुकारते हैं।

आशय यह है कि जन्म, जरा-मरण रूप संसार के चक्र में पड़े हुए प्राणी अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्व संलिप्त हैं। इस अज्ञान, अविद्या या मिथ्यात्व के कारण वे संसार के वास्तविक स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं, अतः उनका जो कुछ भी कार्य होता है वह अज्ञानमूलक होता है, उसमें राग-द्वेष का अभिनिवेश लगा होता है। इसलिये उनका प्रत्येक कार्य आत्मा के बन्धन का ही कारण होता है। जैसा कि विभिन्न दार्शनिकों के निम्न मन्तव्यों से स्पष्ट है :—

बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्द प्रश्न' में लिखा है[1]—

"मरने के बाद कौन जन्म ग्रहण करते हैं और कौन नहीं ? जिनमें क्लेश (चित्त का मैल) लगा है वे जन्म ग्रहण करते हैं और जो क्लेश से रहित हो गये हैं वे जन्म नहीं ग्रहण करते हैं। भन्ते ! आप जन्म ग्रहण करेंगे या नहीं ?

महाराज, यदि संसार की ओर आसक्ति लगी रहेगी तो जन्म ग्रहण करूँगा और यदि आसक्ति छूट पायेगी तो नहीं करूँगा।"

और भी—"अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नाम और रूप, नाम और रूप के होने से छः आयतन, छः आयतन के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म और जन्म के

---

१. पृष्ठ ३६।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होने से बुढ़ापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख, बेचैनी और परेशानी होती है। इस प्रकार इन दुःखों के सिलसिले का आरम्भ कहां से हुआ इसका पता नहीं।[1]

योग दर्शन में लिखा है—

वृत्तयः पच्चतथ्यः क्लिष्टाअक्लिष्टाः ।।१-५।।
क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः ।व्या० भा०।

प्रतिपत्ताअर्थमवसाय तत्र सक्तो द्विष्ठो वा कर्माशयमाचिनोतीति भवन्ति धर्माधर्मप्रसवभूमयो वृत्तयः क्लिष्टा इति । तत्त्व वै० ।

तथा जातीयका-क्लिष्टजातीया अक्लिष्टजातीया वा संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते। वृत्तभिः संस्काराः संस्कारेभ्यश्चवृत्तय इत्येवं वृत्तिसंस्कारचक्रं निरन्तरमावर्तते ।भास्वति।

अर्थात् पांच प्रकार की वृत्तियां होती हैं, जो क्लिष्ट भी होती हैं और अक्लिष्ट भी होती हैं। जिन वृत्तियों का कारण क्लेश होता है और जो कर्माशय के संचय के लिये आधारभूत होती हैं उन्हें क्लिष्ट कहते हैं। अर्थात् ज्ञाता अर्थ को जानकर उससे राग या द्वेष करता है और ऐसा करने से कर्माशय का संचय करता है। इस प्रकार धर्म ओर अधर्म को उत्पन्न करने वाली वृत्तियां क्लिष्ट कही जाती हैं। क्लिष्ट जातीय अथवा अक्लिष्टजातीय संस्कार वृत्तियों के ही द्वारा होते हैं और वृत्तियां संस्कार से होती हैं। इस प्रकार वृत्ति और संस्कार का चक्र सर्वदा चलता रहता है।

सांख्यकारिका' में लिखा है—

सम्यग्ज्ञान अधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तो।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः ।।६७।।
संस्कारो नाम धर्माधर्मो निमित्तं कृत्वा शरीरोत्पत्तिर्भवति।
.....संस्कारवशात्-कर्मवशादित्यर्थः । माठ-वृ०।

अर्थात् धर्म और अधर्म को संस्कार कहते हैं। उसी के निमित्त से शरीर बनता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर धर्मादिक पुनर्जन्म करने में समर्थ नहीं रहते। फिर भी संस्कार की वजह से पुरुष संसार में ठहरा रहता है। जैसे, कुलाल के दण्ड का सम्बन्ध दूर हो जाने पर भी संस्कार के वश से चाक घूमता रहता है। क्योंकि बिना फल दिये संस्कार का क्षय नहीं होता।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय वगैरह को धर्म और हिंसा, असत्य, स्तेय वगैरह को अधर्म के साधन बतलाकर 'प्रशस्तपाद' में लिखा है—

---

१. मिलिन्द प्रश्न पृष्ठ ६२।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

"अविदुषो राग द्वेषवतः प्रवर्तकाद् धर्मात प्रकृष्टात स्वल्पा धर्म-सहितात् ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेषु आशयानुरूपैरिष्ट शरीरेन्द्रियविषयसुखादिभियोगो भवति । तथा प्रकृष्टाद् धर्माद् स्वल्पधर्मसहितात प्रेततिर्यग्योनिस्थानेषु अलिष्ट शरीरेन्द्रियविषयदुःखादिभियोगो भवति । एवं प्रवृत्तिलंक्षपाद् धर्माद् अधर्मसहिताद देवूमनुष्यतिर्यङःनारकेषु पुनः-पुनः संसारबन्धो भवति ।"

(पृ. २८०-२८१)

अर्थात् राग और द्वेष से युक्त अज्ञानी जीव कुछ अधर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट धर्ममूलक कार्यों के करने से ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, प्रजनपतिलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक में अपने आशय-कर्माशय के अनुरूप इष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और सुखादिक को प्राप्त करता है तथा कुछ धर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट अधर्ममूलक कामों के करने से प्रेतयोनि, तिर्यग्योनि वगैरह स्थानों में, अनिष्ट शरीर, इन्द्रिय विषय और दुःखादिक को प्राप्त करता है । इस प्रकार अधर्म सहित प्रवृत्तिमूलक धर्म से देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकों में जन्म लेकर बारम्बार संसारबन्ध को करता है ।

न्याय मंजरीकार ने भी इसी मत को व्यक्त करते हुए लिखा है—"यो ह्यम् देवमनुष्यतिर्यरभूमिषुशरीरसर्गः, यश्च प्रतिविषयं बुद्धिसर्गः, यश्चात्मना सह मनसः संसर्ग, स सर्वःप्रवृत्तेरेव परिणामविभवः । प्रवृत्तेश्च सर्वस्याःक्रियात्वात् क्षणिकत्वेअपि तदुपहितो धर्माधर्मशब्दवाच्य आत्मसंस्कारः कर्मफलोपभोगपर्यन्तस्थितिरस्त्येव न च जगति तथाविधं किमपि कार्यमस्त्विवस्तु यन्न धर्माधर्माभ्यामाक्षिप्त सम्भवम ।" (पृ. ७०)

अर्थात्—देव, मनुष्य और तिर्यग्योनि में जो शरीर की उत्पत्ति देखी जाती है, प्रत्येक वस्तु को जानने के लिये जो ज्ञान की उत्पत्ति होती है, और आत्मा का मन के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह सब प्रवृत्ति का ही परिणाम है । सभी प्रवृत्तियाँ क्रियारूप होने के कारण यद्यपि क्षणिक हैं, किन्तु उनसे होने वाला आत्मसंस्कार, जिसे धर्म या अधर्म शब्द से कहा जाता है, कर्म फल के भोगने पर्यन्त स्थित रहता है । संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है जो धर्म या अधर्म से व्याप्त न हो ।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों के उक्त मन्तव्यों से यह स्पष्ट है कि कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्ति का है और उस प्रवृत्ति के मूल में राग और द्वेष रहते हैं तथा यद्यपि प्रवृत्ति, क्रिया या कर्म क्षणिक होता है तथापि उसका संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है । संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आती है । इसी का नाम संसार है । किन्तु जैन दर्शन के मतानुसार कर्म का स्वरूप किसी अंश में उक्त मतों से विभिन्न है ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शनानुसार कर्म का स्वरूप :

जैन दर्शन के अनुसार कर्म के दो प्रकार होते हैं। एक द्रव्य कर्म और दूसरा भाव कर्म। यद्यपि अन्य दर्शनों में भी इस प्रकार का विभाग पाया जाता है और भाव कर्म की तुलना अन्य दर्शनों के संस्कार के साथ तथा द्रव्य कर्म की तुलना योग दर्शन की वृत्ति और न्याय दर्शन की प्रवृत्ति के साथ की जा सकती है तथापि जैन दर्शन के कर्म और अन्य दर्शनों के कर्म में बहुत अन्तर है। जैन दर्शन में कर्म केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी-द्वेषी जीव को क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह घुल-मिल जाता है, जैसे दूध में पानी। वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये रूढ़ हो गया है क्योंकि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया की वजह से आकृष्ट होकर वह जीव से बंध जाता है। आशय यह है कि जहाँ अन्य दर्शन राग और द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं, और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी तज्जन्य संस्कार को स्थायी मानते हैं वहाँ जैन दर्शन का मन्तव्य है कि राग-द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य आत्मा में आता है, जो उसके राग-द्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बंध जाता है। कालान्तर में यही द्रव्य आत्मा को शुभ या अशुभ फल देता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

जैन दर्शन छः द्रव्य मानता है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। अपने चारों ओर जो कुछ हम चर्म चक्षुओं से देखते हैं सब पुद्गल द्रव्य है। यह पुद्गल द्रव्य २३ तरह की वर्गणाओं में विभक्त है। उन वर्गणाओं में से एक कार्मण वर्गणा भी है, जो समस्त संसार में व्याप्त है। यह कार्मण वर्गणा ही जीवों के कर्मों का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

"परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।" (प्रवचनसार ९५)

अर्थात् जब राग-द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामों में लगती है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणीय आदि रूप से उसमें प्रवेश करती है।

इस प्रकार जैन सिद्धान्त के अनुसार कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीव के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाता है।

जीव अमूर्तिक है और कर्म द्रव्य मूर्तिक। ऐसी दशा में उन दोनों का बन्ध ही सम्भव नहीं है। क्योंकि मूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध ही हो सकता है, किन्तु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध कदापि संभव नहीं है, ऐसी आशंका की जा सकती है, जिसका समाधान निम्न प्रकार है—

अन्य दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी जीव और कर्म के सम्बन्ध के प्रवाह को अनादि मानता है। किसी समय यह जीव सर्वथा शुद्ध था और बाद को उसके

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

साथ कर्मों का बन्ध हुआ, ऐसी मान्यता नहीं है। क्योंकि इस मान्यता में अनेक विप्रतिपत्तियां उत्पन्न होती हैं। 'पंचास्तिकाय' में जीव और कर्म के इस अनादि सम्बन्ध को जीव पुद्गल कर्म चक्र के नाम से अभिहित करते हुए लिखा है—

"जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होहि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।। (२९)
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ।। (३०)

अर्थ :—जो जीवन संसार में स्थित है अर्थात् जन्म और मरण के चक्र में पड़ा हुआ है उसके राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। परिणामों से नये कर्म बंधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर होता है। शरीर में इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता है। विषयों के ज्ञान से राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसार रूपी चक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्म और कर्म से भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है।

इससे स्पष्ट है कि जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बंधा हुआ है। जब जीव मूर्तिक कर्मों से बंधा है, तब उसके नये कर्म बंधते हैं, वे कर्म जीव में स्थित मूर्तिक कर्मों के साथ ही बंधते हैं, क्योंकि मूर्तिक का मूर्तिक के साथ संयोग होता है और मूर्तिक का मूर्तिक के साथ बंध होता है। अतः आत्मा में स्थित पुरातन कर्मों के साथ ही नये कर्म बंध को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार परम्परा से कदाचित मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्म द्रव्य का सम्बन्ध जानना चाहिये।

सारांश यह है कि अन्य दर्शन क्रिया और तज्जन्य संस्कार को कर्म कहते हैं, किन्तु जैन दर्शन जीव से सम्बद्ध मूर्तिक द्रव्य और निमित्त से होने वाले राग-द्वेष रूप भावों को कर्म कहता है।

———

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

[१]

किण विध होवे छूट करम को

[राग विहाग—भेष धर योंही जनम गमायो]

किण विध होवे छूट करम को, किण विध होवे छूट ।।टे०।।

दुष्ट रुष्ट मन मुष्ट चलाकर, कियो वृक्ष ने ठूंट ।।
इण भव कुष्ट, पुष्ट तन परभव, वायस रहा अंग चूंट ।।१।।

वेश्या सम छल-बल-कल करने, बनगयो स्याणो सूंट ।
आयो हाट में दई टाट में, लियो बाण्या ने लूट ।।२।।

गुणवंता का गुण नहिं कीना, अवगुण काढ्या झूठ ।
इधर उधर की बात बणाकर, पापी पाडी फूट ।।३।।

षट्-रस भोजन महल त्रिया सुख, राज करूं चहुं खूंट ।
पाप मांहे अग्रेसर बनियो, आयुबल गयो खूट ।।४।।

सतसंगत को नाम न लीनो, वित्त दाव बदे मुख तूट ।
"सुजाण" कहे सतशील धरम बिन, ज्यूं टोला को ऊँट ।।५।।

—मुनि श्री सुजानमलजी म० सा०

[२]

प्रभु तुम सौं नाहीं परदा हो

[राग—झंझोटी]

इन करमौं तै मेरा डरदा हो ।।इन०।।

इनही के परसंग तै सांई,
भव-भव में दुःख भरदा हो ।।इन।।१।।

निमष न संग तजत ये मेरा,
मैं बहुतेरा ही तड़फदा हो ।।इन।।२।।

ये मिलि बहौत दीन लखि मौंको,
आठों ही जाम रहै लरदा हो ।।इन।।३।।

दुःख और दरद की मैंसय हीअरपदा,
प्रभु तुम सौं नाहीं परदा हौ ।।इन।।४।।

'बखतराम' कहै अब तौ इनका,
फेरि न कीजिए आरजूदा हो ।।इन।।५।।

—बखतराम

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org